षष्ठ अध्याय

जीवनीपरक उपन्यास 'विवेकानन्द' में दार्शनिकता

षष्ठ अध्याय

जीवनीपरक उपन्यास 'विवेकानन्द' में दार्शनिकता

विषय प्रवेश

6.1 दर्शन का स्वरूप

6.1.1 अर्थ

6.1.2 परिभाषा

6.2 दार्शनिकता का महत्त्व

6.2.1 व्यक्ति का आत्मिक विकास

6.2.2 धर्म को परिष्कृत एवं समयानुरूप बनाना

6.2.3 विश्वशांति तथा धार्मिक एवं सांप्रदायिक सौहार्द

6.2.4 राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र का उन्नयन

6.2.5 विज्ञान-तंत्रज्ञान से मानव कल्याण

6.3 'विवेकानन्द' उपन्यास में दार्शनिकता

6.3.1 भक्ति और सेवावृत्ति

6.3.2 त्याग एवं समर्पण

6.3.3 साहस, निड़रता एवं अक्षयानंद

6.3.4 साधना पद्धति एवं साधन

6.3.5 समाधि अवस्था

6.3.6 प्रेम और शांति

निष्कर्ष

षष्ठम अध्याय

जीवनीपरक उपन्यास 'विवेकानन्द' में दार्शनिकता

विषय प्रवेश :

'विवेकानन्द' उपन्यास विश्व के महान दार्शनिक एवं भारतीय नवजागरण के अग्रदूत स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर बनी अमूल्य साहित्य-संपदा है। स्वामीजी का जीवन साधारण से असाधारण की यात्रा का प्रतिक है। इस यात्रा में उन्होंने अपनी अदम्य इच्छाशक्ति, विवेकसंपन्न बुद्धि और उच्च एवं कर्मप्रधान विचारों से जन-जन में नवचेतना का स्फूलिंग जागृत किया। धर्म के नाम पर समाजमन में स्थित संकुचित वृत्ती और आडंबरों पर प्रहार किया। धर्म-दर्शन को समाज-कल्याण एवं आचरण की सद्वस्तु बनाने का कार्य किया। डॉ. भटनागरजी ने प्रस्तुत उपन्यास में विवेकानन्द के इसी कार्य को उजागर करने का प्रयास किया है। उक्त उपन्यास में जीवनमूल्य, संस्कृति, दर्शन इ. संबंधी अनमोल विचार मिलते हैं। जो आज के युग में भी समाज के हर क्षेत्र में आदर्श की प्राप्ति के लिए सहायक होंगे।

मनुष्य प्राणी अपनी विचारशक्ति के कारण अन्य सभी जीवों में अपनी अलग महत्ता स्थापित कर सका है। इस विचार शक्ति के चलते ही वो ज्ञान, विज्ञान एवं कर्म के द्वारा अपने जीवन को निरंतर परिष्कृत तथा समृद्ध बनाता रहा है। मनुष्य अपने और विश्व के उत्पत्ति, स्थिति और लय के बारे में जानने के लिए सदा-से लालायित रहा है। इस दिशा में उसने बहुत-से सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को जन्म दिया है। आत्मा-परमात्मा के संबंध की तलाश में अनेक महापुरुषों ने अपने जीवन को समर्पित किया। इस दौरान उन्होंने जो कुछ अनुभव किया, उस अनुभव की अभिव्यक्ति 'दर्शन' है। और इसी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को दार्शनिकता कहा जाएगा।

6.1 दर्शन का स्वरूप :

दर्शन के स्वरूप को जानने के लिए उसके अर्थ एवं परिभाषा को समझना आवश्यक है।

6.1.1 अर्थ :

दर्शन यह संस्कृत शब्द है। जो 'दृश' धातु से निर्मित है। इसका सामान्य अर्थ होगा 'देखना' और मूल अर्थ 'साक्षात अनुभव'। नालंदा शब्दसागर में इसका अर्थ इस प्रकार बताया गया है, -

"वह शास्त्र या विधा जिससे पदार्थों के धर्म, कार्य-कारण संबंध आदि का बोध हो।"[1]

हम कह सकते हैं, कि मानव को अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त होता है, उस अनुभूति के अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को दर्शन कहा जाएगा।

अंग्रेजी में दर्शन के लिए 'फिलॉसॉफी'[2] शब्द का प्रयोग होता है। जिसका अर्थ है, तत्त्वचिंतन या तत्त्वविवेचन। फिलासॉफी शब्द 'फिलौस' और 'सॉफिया' इन शब्दों के संयोग से बना है। 'फिलौस' का अर्थ है 'प्रेम' और 'सॉफिया' माने 'ज्ञान'। इस तरह 'फिलौसॉफी' का अर्थ होगा 'ज्ञान का प्रेम'। प्रेम का अर्थ यहाँ पर संकुचित रूप में न लेकर समस्त संसार के लिए 'परम सदवस्तू' के रूप में लिया जाएगा।

6.1.2 परिभाषा :

भारतीय मतानुसार "परम सद्वस्तु या ज्ञान ही दर्शन है। सच्चा ज्ञान उस वस्तु का ज्ञान है जिसके ज्ञान से अन्य सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।"[3]

परम सद्वस्तु जिसे हर एक धर्म में अलग-अपग नामों - ईश्वर, परमात्मा, एकोंकार, अल्लाह, गॉड, सेल्फ इ. से जाना गया हैं। उसे जानने के लिए हर व्यक्ति लालायित रहता है। जब कोई उस परमात्मा से साक्षात्कार करता है, तब वह अक्षय आनंद की अनुभूति करता है। यह अनुभव सब के लिए अलग-अलग रूप में हो सकता है। इसी संदर्भ में तुलसीदासजी का एक प्रसिद्ध दोहा है, -

"जाकीं रही भावना जैसी
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी"

---

1. नवलजी (संपादक), नालंदा विशाल शब्दसागर, (दिल्ली, आदर्श बुक डेपो, प्र. सं. 1951), पृ. 567.
2. Philosophy.
3. डॉ. शुभदा वांजपे, छायावादी काव्य में आत्माभिव्यक्ति, (जयपुर, अन्नपुर्णा प्रकाशन, प्र. सं. 1999), पृ. 222.

अत: इस आंतरिक अनुभूति के बारे में अनुभवकर्ता के विचार दार्शनिक विचार कहे जाते हैं। इसमें अनुभूति तत्त्व एक ही होता है मगर उसकी अभिव्यक्ति करते वक्त अलग-अलग लोगों से अलग शब्द, भाषा, पद्धति और उदाहरणों का सहारा लिया जाएगा। दर्शन को हम आत्माभिव्यक्ति की ऐसी प्रक्रिया कह सकते हैं, जिसमें स्वानंद को परमानंद बनाने का प्रयास रहता है।

नालंदा शब्दसागर में दर्शन को निम्नांकित रूप में व्याख्यायित किया गया है।

"वह शास्त्र या विद्या जिसमें प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, जगत् के नियामक धर्म और जीवन के अंतिम लक्ष्य आदि का निरूपण होता है।"[1]

पाश्चात्त्य तत्त्वज्ञ 'बर्गसाँ' लिखते हैं, "दर्शन केवल पूर्ण में, जीवन के उस सागर में पुन: पैठने का एक प्रयत्न मात्र है; जिसमें हम समाए हुए हैं, जहाँ से हम स्वयं श्रम और जीवन की शक्ति पाते हैं और जहाँ से प्रकृति, बुद्धि दोनों का उद्गम है।"[2]

जिस तरह कहा जाता है कि हर जीव में ईश्वरतत्त्व समाया हुआ है, इससे कहीं ज्यादा सत्य है, कि ईश्वर में हर जीव या अखंड सृष्टि का समावेश है। भगवद्गीता में विश्वरूप की इसी कल्पना की उद्भावना हुई है। जो भयावह न होकर जीवनदायिनी है। इस पर कबीर जी अपने दोहें में संदेश देते हैं :-

"जल में कुंभ, कुंभ में जल, बाहर-भीतर पानी
फूटा कुंभ जल-जलही समानां, यह तत् गयो गियानी।।"

लेकिन दर्शन सिर्फ विचारों तक ही सीमित नहीं है। उसका प्रत्यक्ष में अवतरण महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में 'प्रा. मधुकर देशमुख' लिखते हैं :-

"अनुभूति का सत्य ही सत्य है। अनुभव करानेवाली सृष्टी है। जीवनानुभूति की वस्तू वह है, जो सर्वत्र अदृश्य रूप में प्रवाहमान रहती है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखते हुए हम दर्शन को निम्नलिखित प्रकार से व्याख्यायित कर सकते हैं :-

---

1. नवलजी (संपादक), नालंदा विशाल शब्दसागर, (दिल्ली, आदर्श बुक डेपो, प्र. सं. 1951), पृ. 567.
2. डॉ. शुभदा वांजपे, छायावादी काव्य में आत्माभिव्यक्ति, (जयपुर, अन्नपुर्णा प्रकाशन, प्र. सं. 1999), पृ. 222.
3. प्रा. मधुकर देशमुख, राष्ट्रवाणी (द्वैमासिक), (पुणे, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, जुलाई-अगस्त 2012), पृ.41.

"दर्शन उस आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रक्रिया का नाम है, जिसमें इन्सान अपनी जिज्ञासा एवं शोधबुद्धि के माध्यम से अपने अस्तित्त्व ज्ञान के अनुभव को अभिव्यक्त करता है।"

इस प्रक्रिया के चलते ही अनेकों ने आत्मसाक्षात्कार प्राप्त किया। उन साक्षात्कारों के दरम्यान उन्होंने जो अनुभव किया, उसे ग्रंथों, उपदेशों द्वारा समाज के सामने रखा। आज विश्व में धर्म, धर्मग्रंथ, धर्मव्यवस्थाएँ, साधना पद्धतियाँ आदि सभी दर्शन प्रक्रिया के ही उपहार स्वरूप हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दर्शन और धर्म में साम्य है। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मनाम उनके अलग-अलग साधना पद्धति एवं व्यवस्थाओं के कारण है। मगर उनमें जो मुलतत्त्व है वो एक ही है। अंत में हम विवेकानन्द द्वारा बताई गई 'धर्म' की परिभाषा को देखेंगे, जो दर्शन को भी सटिकता से लागू होती है, -

"धर्म मनुष्य को उस दिव्यता का अनुभव कराता है, जो पहले से विद्यमान है। धर्म के माध्यम से पशु को मानव और मानव को ईश्वर-स्वरूप बनाया जाता है।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म या दर्शन अंडरस्टैंडिंग[2] की वह प्रक्रिया है जिसमें इन्सान स्वयं में पहले से व्याप्त अमर-तत्त्व को जान-समझकर उसकी अभिव्यक्ति करता है। उसे अपने विचारों, शब्दों एवं कृति द्वारा प्रकट करने का प्रयास करता है।

---

1. Swami Vivekanand, I Am A Voice Without A Form, (Hyderabad,Ramkrushna Math, 9th Edi. 2010), Page No. 31.
2. Understanding.

6.2 दार्शनिकता का महत्त्व :

समष्टि ब्रह्मांड/विश्व का संचालन सिर्फ जड़ पदार्थों से नहीं होता। जड़ पदार्थों से परें चेतनामूलक ऊर्जा है, जो व्यक्ति-व्यक्ति और हर जीव-निर्जिव में व्याप्त है, उससे विश्व परिचालित होता है। इसी चेतना के कारण जीव स्वयं में स्थित ईश्वरत्त्व की अनुभूति कर पाता है। दार्शनिकता के महत्त्व को हम निम्नलिखित मुद्दों के आधार पर विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे।

1. व्यक्ति का आत्मिक विकास।
2. धर्म को परिष्कृत एवं समयानुरूप बनाना।
3. विश्वशांति एवं धार्मिक तथा सांप्रदायिक सौहार्द।
4. राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र का उन्नयन।
5. विज्ञान-तंत्रज्ञान से मानव कल्याण।

1. व्यक्ति का आत्मिक विकास :

व्यक्ति समाज की महत्त्वपूर्ण ईकाई है। इसी के संयोग से समाज, समाज से संस्कृति और सभ्यता आदि का निर्माण संभव हो पाता है। अत: समाज के विकास एवं समृद्धि के लिए हर एक व्यक्ति में आत्मज्ञान की ज्योत जलाना आवश्यक है। यह काम दार्शनिकता एवं दार्शनिक विचारों से संभव है।

आत्मिक विकास तभी होगा जब व्यक्ति में आत्मा की स्वायत्तता आऐगी। 'आत्मा की स्वायत्तता' में नचिकेता अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए अपने आप से कहता है :-

"तु आत्मा की एक ऐसी स्वायत्तता बना
जिसमें जीवन को
वस्तुओं के शासन से मुक्त जी सकें।
जहाँ अपनी इच्छाओं के अंतर्विरोधों से
समाप्त होकर नहीं - उन्हें समाप्त करके
जीवन को कोई अर्थसंतुष्टि दे सके।"[1]

---

1. कुँवर नारायण, आत्मजयी, (नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, नौवा सं. 2009), पृ. 103.

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त की गई जीवन की अर्थसंतुष्टि तभी मिलेगी जब व्यक्ति अपने संकुचित स्वार्थगत विकारों को हटाकर प्रेम, शांति, धीरज, समर्पण, साहस आदि आत्मा के गुणों का अवतरण करेगा। इन गुणों के विकास के लिए दर्शन की दृष्टि मिलना महत्त्वपूर्ण है। जब व्यक्ति में अपने और विश्व के बीच के आंतरसंबंध एवं एकत्त्व का बोध होगा, तो उपर्युक्त गुणविशेष उसमें अपने आप उभरने लगेंगे।

सृष्टी के इतिहास में मनुष्य योनी सर्वोत्तम मानी जाती हैं। पशुता और मानवता में विशेष अंतर ज्ञान बोध का है। सही अर्थ में मनुष्य वही है, जो बोधपूर्वक अपने कर्तव्यों-कर्मों का पालन करते हुए पारमार्थिक जीवन बिताता है। इस कार्य-कलाप में दार्शनिकता का अपना अन्यतम महत्त्व है।

2. धर्म को परिष्कृत एवं समयानुरूप बनाना :

धर्मों का निर्माण मानवहित के लिए होता है। अत: जब-जब धर्मों की स्थापना हुई तो उस वक्त की परिस्थिति और समाज की वृत्ति-प्रवृत्ति, स्वरूप आदि को ध्यान में रखकर नियम पद्धतियाँ बनाई गई। समय के चलते कुछ बातों को त्यागना या उन्हें परिष्कृत रूप में ग्रहण करना आवश्यक होता है। साथ नए विचार, परंपराएँ एवं पद्धतियों से धर्म को समृद्ध एवं प्रगल्भ बनाना आवश्यक रहता है। इस बात के लिए ऐसे लोगों की जरूरत होती है, जिनमें दार्शनिक दृष्टि एवं वृत्ति है।

किसी धर्म को मानव धर्म बनाकर प्रत्यक्ष आचरण में लाने के लिए ज्ञान, भक्ति व कर्म का त्रिवेणी संगम एक दार्शनिक द्वारा ही संभव है। इस संदर्भ में मानवता के पुजारी 'साने गुरूजी' लिखते हैं :-

"ज्ञान के बिना भक्ति अंधी है। भक्ति के बिना ज्ञान रूखा है और कर्म में अवतरित हुए बिना ज्ञान और भक्ति का कोई अर्थ नहीं। ज्ञानमयी गंगा को भक्तिमयी यमुना में मिलने दो और कर्ममयी सरस्वती को भक्ति-ज्ञान का स्पर्श होने दों।"[1]

इस तरह धर्म को आचरन में लाकर धर्मपरायण वृत्ति निर्माण में दर्शन की भूमिका अत्यंत उपयोगी साबित होती है।

---

1. साने गुरूजी, भारतीय संस्कृति, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य प्रकाशन, प्र. सं. 2006), पृ. 25.

3. विश्वशांति तथा धार्मिक एवं सांप्रदायिक सौहार्द :

विश्व शांति के लिए मानव-मानवेत्तर सृष्टि के बीच सामंजस्य, प्रेम, सौहार्द की आवश्यकता होती है। इसके लिए सिर्फ बाहरी एकात्म से काम नहीं चलेगा। उसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति-व्यक्ति में पहले से स्थापित आंतरिक ऐकत्त्व की भावना उजागर हों। इसी से मानव मन में धर्म, देश, वर्ण, जाति आदि की जो भेद-भित्तियाँ हैं, उन्हें गिराया जा सकता हैं।

दर्शन इन्सान को स्थूल से सूक्ष्म की ओर, अशांति से शांति की ओर, भेद से अभेद की ओर ले जाता है। अनेकत्व से एकत्व की ओर ले जाता है। ये सब समदर्शन की दृष्टि से हो सकता है। ज्ञानेश्वरी के छटे अध्याय के 29 वें श्लोक में कहा गया हैं, कि

"जिसमें समदर्शन की दृष्टि आ जाती है वह अपने में सर्व भूतों और सर्व भूतों में अपने आप को देखने लगता है।"[1]

इस तरह जब मनुष्य मन की सारी भेदवृत्ति नष्ट हो जाती है तब वह बाह्य और आंतरिक संघर्ष से मुक्त हो जाता है। ऐसे समय उसकी सारी ऊर्जा, सारी शक्ति मानव विकास, विश्व समृद्धि में कार्यरत की जा सकेगी। विश्व में आज युद्ध, मारकाट, हिंसा, सांप्रदायिक दंगे, लूटमार, बलात्कार आदि समस्याओं से मानव-मन क्लांत और अशांत बना हुआ है। वैज्ञानिक खोज के साधनों द्वारा वह बाहरी अस्तित्व से जितना नजदीक (एक दूसरे के समीप) आया है, उतना ही आत्मा की आवाज से परे होता गया है। ऐसी अवस्था में उसे फिर से आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर खुद को आत्मा के स्वरूप में ढालना होगा। इस कार्य में दार्शनिक विचारधाराओं का महत्त्व अनन्यसाधारण साबीत होगा।

4. राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र का उन्नयन :

आज मानव समाज पर सबसे अधिक प्रभाव राजनीति का है। राजनीति क्षेत्र में आज के समय में चारित्र्यहीन व्यक्तियों की बाढ़-सी आ गयी है। इससे संपत्ति और सुख के साधनों को एक वर्ग तक सीमित किया जा रहा हैं। गरिब-अमिर के बीच की खाई बढ़ती जा रही है, जिससे सामान्य जन में असंतोष की भावना का उद्रेक होने लगा है। इसके लिए भ्रष्ट

---

1. संत ज्ञानेश्वर, ज्ञानेश्वरी, (पुणे, शारदा साहित्य प्रकाशन, प्र. सं. 2005), पृ. 185.

राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था और स्वार्थांध चारित्र्यहीन व्यक्ति पूर्ण रूप से जिम्मेदार हैं। अतः इस व्यवस्था के परिमार्जन के लिए बाहरी कायदे-कानून बनाना जितना आवश्यक है, उतना ही जरूरी है, हर व्यक्ति में उसके बाल्यकाल से अच्छे विचारों एवं आदर्श जीवनमूल्यों को संस्कारित करना।

हमने देखा हैं, कि संस्कृति मानव के सर्वांगिण विकास व समृद्धि के लिए जीवनमूल्यों के प्रत्यक्ष आचरण की प्रक्रिया है। अतः इस प्रक्रिया में दार्शनिक दृष्टि का होना अनिवार्य है। तभी वह समाज कल्याण में उपयोगी सिद्ध होगी। दर्शन की परिभाषा करते हुए हमने देखा कि आंतरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति ही दर्शन है। यह अभिव्यक्ति सिर्फ विचारों तक सीमित नहीं रहती। वह दृश्य रूप में वस्तु-निर्माण, सामाजिक आचार, साहित्य निर्माण आदि मानवीय कलाओं के रूप में भी होती है। सांस्कृतिक क्षेत्र में जो भी उच्च कोटि के सृजनात्मक कार्य होते हैं, वे आत्मा-परमात्मा के गुणों को दृश्य रूप में अवतरित करने के ही प्रयास हैं। प्रेम, शांति, श्रद्धा, करूणा, साहस, धैर्य आदि गुणों से प्रेरित विश्व की जो इमारते, मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, साहित्य, संस्थाएँ हैं, उनके निर्माण के पीछे प्रमुख कारण दार्शनिकता ही है।

आज के युग में समाजव्यवस्था राजनीति के इर्द-गिर्द घूम रही है। राजनीति मानव समाज को संचालित करनेवाला सबसे प्रभावी तत्त्व बन गया है। इस क्षेत्र में चारित्र्यवान लोगों के अभाव से समाज धर्म, संप्रदाय, जाति, वर्ग आदि खानों में बँट गया हैं, जो उसे विनाश के गर्त में ले जा रहा है। ऐसी स्थिति से समाज को उभारने के लिए राजनीतिक क्षेत्र के लोगों में चारित्रिक गुणों की जागृति लाना जरूरी है। यह कार्य दार्शनिक दृष्टि एवं विचारधाराओं से संभव है। अगर दुनिया के किसी एक इन्सान में आत्मा के सच्चे स्वरूप एवं गुणों का प्रकटीकरण हो सकता हैं, तो वह बात अन्य लोगों पर भी समान रूप से लागू हो सकती हैं। दार्शनिकता एक ऐसा तत्त्व है, जो अनेकत्त्व में एकत्त्व की स्थापना करता है। जब इस एकत्त्व का दर्शन व्यक्ति को होगा तो वह स्वार्थबुद्धि एवं संकुचितता से बाहर निकल कर अपनी सत्ता-शक्ति का उपयोग अखंड मानवजाति के कल्याण में करने लगेगा।

5. विज्ञान-तंत्रज्ञान से मानव-कल्याण :

21 वीं सदी को विज्ञान एवं सूचना प्राद्योगिकी के नाम से जाना जाता है। मनुष्य द्वारा कर्म ठीक हो इसलिए विज्ञान की जरूरत होती है। मगर वो कर्म मानव-कल्याण में

परिणत हो इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में 'साने गुरूजी' लिखते हैं :-

"जब तक ज्ञान-विज्ञानात्मक दृष्टि नहीं, तब तक विज्ञान सुरक्षित नहीं। यदि विज्ञान के पीछे यह अद्‌वैत का तत्त्वज्ञान, यह एकत्त्व का तत्त्वज्ञान, यह प्रेम का तत्त्वज्ञान न हो तो विज्ञान सारे संसार का नाश कर देगा। विज्ञान से संसार सुंदर बनने के बजाय भयानक बन जाएगा।"[1]

साने गुरूजी की उपर्युक्त बातें आज काफी हद तक घटित हो रही हैं। जब तक एक देश व जाति का दूसरे देश व जाति के साथ प्रेम का संबंध न होगा तब तक विज्ञान का उपयोग मानव कल्याणकारक साधनों की अपेक्षा मानव संहारक अस्त्रों की ऊपज में किया जाएगा। अनुबम, हायड्रोजन बम इ. शस्त्रास्त्र इसी द्‌वेष बुद्‌धि की देन है।

जब इन्सान में दार्शनिक दृष्टि जगेगी, तब वह हर धर्म के मूल स्वरूप और उपादेय को जान सकेगा। यह जान सकेगा कि विश्व के हर जीव में एक सत् तत्त्व स्थित है, परिव्याप्त है। इससे अपनापन जगेगा। नफरत की आँधी जाती रहेगी। और संपूर्ण विश्व एक परिवार के रूप में नजर आने लगेगा। भारतीय संतों एवं दार्शनिकों की 'वसुधैवकुटुंबकम्' की भावना को प्रत्यक्ष में लाया जा सकेगा।

आज भारतीय लोग पाश्चात्त्य देशों को भौतिकवादी कहकर और खुद को अध्यात्मवादी मानकर गर्व महसूस करते हैं। मगर आज की भारत की दशा व दिशा को देखकर कहना पड़ेगा कि वह न पूर्ण भौतिकवादी है और न अध्यात्मिक। वह मुर्दावस्था को प्राप्त हो रहा है। ऐसे समय लाश से कैलाश की यात्रा में इन्सान को दार्शनिक विचारधारा को अपना राहगीर बनाकर चलना होगा। जो अध्यात्म ग्रंथों-विचारों तक सीमित पड़ा है उसे आचरण की सद्‌वस्तु बनाना होगा। भारतीय संस्कृति के अध्यात्मिक तत्त्व को फिर से पुनर्स्थापित करना होगा। यह तभी साकार हो उठेगा जब हम अपनी हर एक कार्य में दर्शन दृष्टि का निर्वाह करेंगे।

---

1. साने गुरूजी, भारतीय संस्कृति, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य प्रकाशन, प्र. सं. 2006), पृ. 87.

6.3 'विवेकानन्द' उपन्यास में दार्शनिकता :

डॉ. भटनागर जी ने प्रस्तुत उपन्यास द्वारा न केवल विवेकानन्द के अमर व्यक्तित्त्व को पाठक के सम्मुख उपस्थित किया है, बल्कि उनके द्वारा मानव जाति को दिए गए अमर संदेश को जन-जन तक पहुँचाने का सार्थक प्रयास किया है। विवेकानन्द ने मानवमात्र के सामने ईश्वर प्राप्ति का कूल-मूल लक्ष्य रखा। उसके लिए ज्ञान, भक्ति व सेवा का मार्ग बताया। वे 'यत्र जीव तत्र शिव' को मानकर तद्नुसार बर्ताव करनेवाले महान दार्शनिक थे। उनके हर कार्य एवं विचारों में जीवन के प्रति स्वस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण के दर्शन मिलते हैं।

विवेकानन्द ने मठ-मंदिर, धर्मग्रंथ आदि में बंदिस्त 'ईश्वरीय अस्तित्त्व' को स्वतंत्र किया। उसे ब्रह्मांड के हर वस्तु में प्रतिष्ठापित किया। उनकी इसी भूमिका को उजागर करने वाले अनेक प्रसंगों की उद्भावना लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में की है। अत: इस कृति में पग-पग पर दार्शनिकता के दर्शन मिलते हैं। आगे हम विवेकानन्द उपन्यास में उल्लेखित दार्शनिक विचार एवं प्रसंगों पर चर्चा करेंगे।

6.3.1 भक्ति और सेवावृत्ति :

संसार भर में जितने संत-महात्मा हुए, उन्होंने ईश्वर सेवा-भक्ति को जनसेवा से जोड़ने का कार्य किया। गुरू रामकृष्ण परमहंस के सान्निध्य में विवेकानन्द ने ब्रह्मांड के रन्ध्र-रन्ध्र में ईश्वरानुभूति की। इस साक्षात्कार के बाद उन्होंने अपने मोक्ष की अपेक्षा हर जीव में परिव्याप्त ईश्वर सेवा को अपना जीवनध्येय माना। उनके जीवन का सर्वोच्च संदेश था :-

"शंख बजाना व्यर्थ है, घण्टी-घण्टी खड़खड़ाना व्यर्थ है, पढ़ना-लिखना व्यर्थ है, और मोक्ष पाने का प्रयत्न करना निरा पागलपन है। दरिद्री नारायण की सेवा का व्रत लेकर गाँव-गाँव निकल पडना ही सार्थक है। सर्वहीत में है।"[1]

इसी तरह स्वामीजी अपने सेवक-शिष्य विजेंद्र को ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग बताते हुए कहते हैं -

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं.2007), पृ. 266.

"तू ईश्वर को जानना चाहता है न? तो तू जीवों की सेवा कर। उनके भीतर साक्षात् ब्रह्म है। ईश्वर है। जिस देश के लोग पेट भर भोजन नहीं पा सकें, अकाल, अति वृष्टि, भूचाल के कोप से कीड़े-मकोड़ों की तरह मर रहें हों। उनकी सेवा कर। वे उनमें तुझे दर्शन देंगे।"[1]

इस तरह उन्होंने धर्म व ईश्वरभक्ति को प्रत्यक्ष आचरण में लाने का प्रयत्न किया। उसे सामान्य जन-चेतना से जोडा। इसी विचार के प्रेरणा से भारत एवं विश्व भर में अनेक कर्मयोगियों ने अपना जीवन अभावग्रस्तों के उद्धार में समर्पित किया। उसमें निवेदिता, महात्मा गांधी, मदर तेरेसा, बाबा आमटे, नेल्सन मंडेला आदि कितने ही नाम गिनाये जा सकते हैं। आज समाज में ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवालों की कमी नहीं है। मगर अपने को मठ-मंदिर, पुजा-अर्चना आदि कर्मकांडों तक सीमित रखनेवाले लोग ही अधिक मिलेंगे। और कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने नास्तिक कहलाते हुए भी सामान्य जन सेवा में अपने समस्त जीवन को समर्पित किया। आज के युग में सेवाभाव की यही वृत्ति ईश्वर की असली भक्ति कही जाएगी।

6.3.2 त्याग एवं समर्पण :

धर्म-दर्शन में ईश्वर प्राप्ति के लिए समर्पण प्रथम पायदान है। जब व्यक्ति अपने रूप-नामाभिधान, अहंकार, क्रोध, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, मोह-माया रूपी बाहरी मायावी आवरण को त्यागता नहीं तब तक उसे अपने अंतरतम में व्याप्त स्व-स्वरूप की पहचान असंभव है। इस संदर्भ में स्वामीजी का मुंशी जगमोहनलाल से निम्नलिखित संवाद देखिए :-

: "क्या अगोचर को देखा जा सकता है, स्वामीजी?"

: "आँख इतनी जोर से मींचो की बाहर का दिखना बंद हो जाए तो अगोचर हमारी तुम्हारी तरह सामने होगा। कान बंद कर सकें तो अनहद सुनाई देगा।"

: "नाक ... ?"

: "तो अगोचर की सुगंध प्राप्त कर सकोगे। बाह्य स्पर्शानुभूतियों से मुँह मोड़ लोगे तो हृदय-स्पर्श की अननुज्ञात अनुभुतियों से गद्गद हो उठोगे।"[2]

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं.2007), पृ. 266.
2. वही, पृ. 53.

अमरिका में प्रो. अंजेलिनार जोली और उनके छात्रों का शंका-समाधान करते हुए स्वामीजी बूँद और सागर का उदाहरण देते हैं। जिसमें महासागर में मिलने पर बूँद अपने अस्तित्व समाप्ति की आशंका से आहत हुई है।[1] समुद्र उसको समझाते हुए बताता है कि वह असंख्य जलबिंदूओं से निर्मित है। अत: बूँद का अस्तित्त्व समाप्त न होकर उसका विस्तार हुआ है।''[2]

इस तरह व्यक्ति जब अपने 'मैं' का, पहचान का त्याग करेगा तभी वह अनंत परमात्म स्वरूप को अनुभव कर सकेगा। इस स्थिति पर 'रविंद्रनाथ टैगोर' की 'घाट पर' कविता अधिक प्रकाश डालती है :-

''घर का बोझा तू
ढो-ढोकर घाट के किनारे लाता है
इसलिए तू पार नहीं जा सकता
यह तू भूल ही गया
फिर एक बार मांझी को पुकार
अपना बोझा छोड़ दे
अपना जीवन निरहंकार कर,
भार शून्य कर
उसके चरणों पर अर्पण कर दें।''[3]

6.3.3 साहस, निडरता और अक्षयानंद :

स्व-पहचान की राह में निडरता और निर्लेप आनंद महत्त्वपूर्ण है। भयरहित होकर ही हम शांतस्वरूप परमात्मा को जान सकते हैं। भयग्रस्त होकर आदमी परावलंबी होता है। इस संदर्भ में विवेकानंद का निम्न कथन देखिए -

''भय पतन है और पाप का हेतु है। भय सब बुराईयों की जड़ है। इसी से मृत्यू आती है, दु:ख व्यापते है, अज्ञान घेरता हैं और हम स्वबोध से दूर हो जाते हैं।... आनंद-वह आनंद

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं.2007), पृ. 227.
2. वही, पृ. 227.
3. रविंद्रनाथ टैगोर, गीतांजली, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, प्र. सं. 2008), पृ. 33.

जिसका कभी क्षय नहीं हो सकता, भय की मायावी छलना से ऊपर उठकर ही संभव है। जहाँ डर नहीं, वहाँ विनाश नहीं, मृत्यु नहीं, पराजय नहीं, शोक नहीं, रोग नहीं क्योंकि तब वह उस महानतम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान सम्राटों के सम्राट का उत्तराधिकारी हो जाता है। यही सत्य है और मनुष्य होने का गौरव है।''[1]

आज समाज में धर्म के नाम पर लोगों को डराया जा रहा हैं, जिससे आतंकवाद, सांप्रदायिक दंगे, अंधविश्वास आदि समस्याएँ निर्माण हुई हैं। इस के उपायस्वरूप विवेकानन्द के उपर्युक्त विचार सामान्य जन में नवचेतना भर देते हैं। उन्हें जीवन के प्रति नवउमंग एवं अक्षय आनंद से भर देते हैं। विवेकानन्द की इसी दार्शनिक विचारधारा को लेखक ने अत्यंत सरलता से एवं प्रभावपूर्ण रूप में पाठक के सामने उपस्थित किया है।

विवेकानन्द जन्म को सिर्फ दैहिक आनंद का परिणाम न मानकर उसे आत्मा के अलौकिक आनंद का परिणाम मानते थे।[2] आनंद स्वरूप परमात्मा को पाने के लिए वो स्वयं सदा आनंदित रहकर दूसरों को भी हर्षोल्लास से भर देते थे। वो हँसी को जीवन का टॉनिक मानते थे।[3]

6.3.4 साधना पद्धति एवं साधन :

विवेकानन्द सारे धर्मों एवं धर्म व्यवस्थाओं को ईश्वर तक जाने के साधन मानते थे। उन्होंने किसी एक साधन का विशेष पुरस्कार नहीं किया। उन्होंनें मूर्ति या साकार की पूजा को योग्य रूप में आधार दिया। मूर्ति को वो ईश्वर के प्रतिक रूप में और ध्यान-धारणा में सहायक मानते थे।[4]

इस तरह वे हर धर्म में समान रूप से विश्वास करते थे। इसी कारण किसी तरह के धर्मांतरण के विरोधी थे। वे मानते थे, कि जहाँ वास्तव में धर्म है, वहाँ मारकाट, हिंसा, बलात् धर्म बदलवाने के प्रयास, दूसरे धर्म वालों को दु:ख पहुँचाने के कोशिश नहीं होती।[5]

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं.2007), पृ. 160.
2. वही, पृ. 104.
3. वही, पृ. 55
4. वही, पृ. 34.
5. वही, पृ. 214.

धर्म का दिखावा आज हँगर पर लटके कमीज की तरह किया जा रहा है। धर्म की बातों को हर कोई बखारता नजर आएगा। दूसरे की तुलना में अपने धर्म को बड़ा, सर्वश्रेष्ठ दिखाने की कोशिश कर मिथ्या गर्व महसूस करेगा। मगर धर्म के स्वरूप का अपने जीवन में निर्वाह करना उसकी फितरत में नहीं। जिससे वो आत्मभिरू हो रहा है। ऐसे समय विवेकानन्द जैसे महापुरुषों के दिशादर्शक विचारों की समाज को नितांत आवश्यकता है। उन्होंने धर्मकल्पना को क्लिष्ट सिद्धांतों से बाहर निकालकर मानव के नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन में ला खड़ा किया।

6.3.5 समाधि अवस्था :

इन्सान जब स्वयं की खोज में निकलता है, तो अनेक रास्तों एवं पद्धतियों का अवलंब करता है। अंत में उसे जो अनुभव मिलता है वह हर एक के लिए एकसमान होता है। यह इसी तरह है, जिस प्रकार पृथ्वी पर जमिन के अलग-अलग हिस्सों से नदियाँ निकलकर अलग दिशा, गति, एवं परिस्थितियों में महासागर को जा मिलती हैं।

उपर्युक्त समाधि अवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंग प्रस्तुत उपन्यास में डॉ. भटनागर जी ने अत्यंत कुशलता से उपस्थित किए हैं। अपनी समाधि अवस्था का विवेकानन्द निम्न रूप में वर्णन करते हैं,

"मैं आँखे बंद किए देहानुभव नहीं कर रहा हूँ। मैं जड़ नहीं हूँ। देह जड़ है। मैं आत्मा हूँ जो देह के आश्रय से विराजमान हूँ।"[1]

स्वानुभव की सिर्फ अनुभूति ही संभव है। उसे उसी रूप में अभिव्यक्त कर पाना असंभव है। बोस्टन में अपने दर्शनार्थी मिससे इरोज से इस अवस्था के बारे में बताते हुए विवेकानन्द कहते हैं,

"अनुभूति का सदा अविश्लेषित ही रह जाता है, प्रिय बहन।"[2]

स्वानुभव के प्रत्यक्ष अनुभव एवं उसके वर्णन में उतना ही अंतर रहेगा जितना गन्ना स्वयं खाने में और उसका रसभरे स्वादवर्णन में होगा।

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं.2007), पृ. 117.
2. वही, पृ. 199.

6.3.6 प्रेम और शांति :

प्रेम और शांति अनंत परमात्मा के गुण स्वरूप हैं। परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसके इन गुणों का अवतरण व्यक्ति में होना जरूरी है। राम, ईसा, मुहम्मद, कबीर, मीरा, नानकदेव, रामकृष्ण परमहंस आदि साक्षात्कारी पुरुषों ने अत्यंत अपनेपन एवं धैर्य से जनकल्याणर्थ कार्य किया इसके पिछे प्रेम और शांति इन गुणों का ही प्रमुख आधार दिखाई देगा। प्रस्तुत उपन्यास में स्वामीजी गुरूचरण लष्कर को प्रेरित करते हुए कहते हैं,

"तु आत्मा है, यही शिव है। यही मान जो तेरे लिए शिव है, वह सबके लिए शिव है। फिर तू सबके शिव के लिए स्व के शिव को हर्षित मन से ऐसे छोड़ दे जैसे हरिद्वार के तट पर गंगामाता की लहरों से तूने दीपदान दीया हो।"[1]

जहाँ प्रेम है, आनंद है वहाँ शांति अपने आप स्थापित हो जाति है। विवेकानन्द शांति को ही इस्लाम का सच्चा अर्थ मानते थे।

आज 'प्रेम' को एक सीमित दायरें में रखकर देखा-सुना जाता है। जो समाज को विनाश की ओर ले जा रहा है। प्रेम का मतलब पाने और हासिल करने तक सीमित कर दिया है। मगर प्रेम का सबसे बड़ा तत्त्व है त्याग एवं समर्पण की भावना। प्रेम के इसी उदार व विस्तृत रूप को डॉ. भटनागर जी ने विवेकानन्द और मेरी फिलिप्स के संवादों से दर्शाया हैं। विवेकानन्द मेरी को मीरा की तरह घृणा, द्वेष, ईर्ष्या से ऊपर उठकर सारी मानवता से प्रणय करने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं -

"व्यक्तिगत कामनाओं से ऊपर उठकर इस संसार को सुख से, आनंद से भरने के लिए सबसे प्यार करो।"[3]

निष्कर्ष :

विश्व में आज तक अनेक महापुरुष हुए। जिन्होंने विचार एवं आचार संपन्न जीवन से सर्वांगिण, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक रूप में अपनी महत्ता स्थापित की। विवेकानन्द ऐसे ही युगपुरुषों की श्रेणी में विराजमान हैं। उनके विचार हर युग में मानव समाज के लिए पथदर्शक

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं.2007), पृ. 19.
2. वही, पृ. 238

हैं। उन्होंने धर्म एवं ईश्वर को मुठ्ठी भर लोगों की गिरफ्त से निकालकर सामान्य जन-जन में जगाया। उन्होंने कोरे पोथीवाद, शुष्क साधना पद्धति को प्रत्यक्ष अनुभव एवं आत्म-संवाद में बदल दिया।

भारतभूमि में अनेक महापुरुष जन्में हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति के एक-एक ध्येय के लिए अपना सर्वस्व अर्पण किया। इस धारा में बुद्ध, कबीर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, विवेकानन्द, योगी अरविंद, महात्मा गांधी, अम्बेडकर, बाबा आमटे ऐसे कितने ही नाम आते हैं। उन सभी में हमें निष्कलंक चरित्र और अपार त्याग के दर्शन होते हैं। इसी से भारतीय संस्कृति में अवतारवाद का विकास हुआ। आज भारतीय समाज में अवतारवाद के गलत रूप में प्रचार एवं प्रसार के कारण उसे भारतीयों के अध:पतन का कारण समझा जाता है। उन महापुरुषों को चमत्कारी, इन्सान की दुनियाँ से अलग बताकर स्वार्थी एवं संकुचित वृत्तिवालें लोग उन्हें बाजार में स्थापित करते हैं और अपने घरों को भरते हैं। हमें यह समझना होगा कि वे महापुरुष भी हमारी-तुम्हारी तरह जन्में थे, जिन्होंने अपनी लगन, निष्ठा, त्याग, ध्येयनिष्ठा से अपने आप को उँचा उठाया। अवतारी विभूति का अर्थ है ध्येयपूजक विभूति। ध्येय पर दृष्टि रखकर अटल खड़ी रहनेवाली विभूति। डॉ. भटनागर जी ने प्रस्तुत उपन्यास में 'विवेकानन्द' का इसी रूप में चित्रण किया हैं।

विवेकानन्द न चमत्कार में विश्वास रखते थे और न कभी उन्होंने स्वयं ही कोई चमत्कार किया। वह हर चीज को विवेकबुद्धि से परखकर स्विकार करनेवाले कर्मयोगी थे। उन्होंने मानव के उत्थान का ध्येय सदा अपने से आगे रखा। उसी के लिए वे आजीवन संघर्षरत रहें। मानव के उत्थान में उन्होंने विश्व के धर्म-धर्म के भीतर समन्वय की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने हर धर्म के मूल स्वरूप पर प्रकाश डाला। जब किसी धर्म का मूल स्वरूप उजागर होगा तो वह 'मानवधर्म' कहलाएगा। विवेकानन्द इसी मानवधर्म के उद्गाता एवं संरक्षक थे। उन्होंने हर धर्म, जाति, संप्रदाय में समन्वयक की भूमिका अदा की। उनके इसी रूप एवं कार्य का बोध प्रस्तुत उपन्यास में मिलता हैं।

प्रस्तुत उपन्यास द्वारा मुर्तिपूजा, ईश्वरसाधना आदि पर भी दार्शनिक दृष्टि से विचार व्यक्त हुए हैं। मनुष्य के अंतरबाह्य विकास की दृष्टि से भारतीय संस्कृति ने अनेक प्रतिक साधनों का निर्माण किया है उनमें यह एक महान साधन है। मुर्ति का अर्थ है आकार और हम

जीवन की शुरूआत से आकारपूजक होते हैं। अतः ये आकार, मुर्तियाँ हमारी स्व-पहचान के माध्यम हैं। आज ऐसी स्थिति बनी है कि हम साधनों में उलझकर साध्य को भूल रहे हैं। बाहरी कर्मकांड में लिप्त हो मनुष्य जीवनध्येय से भ्रष्ट हो रहा है। अतः ऐसी स्थिति में उसे संस्कृति चिह्नों के सही अर्थों को समझना होगा। समझ की इस यात्रा में आगे बढ़ने के लिए भारतीयों को कही अन्य जगहों में जाने की आवश्यकता नहीं हैं। भारतीय संस्कृति में उसे वह सारे तत्त्व मिल जाऐंगे जो उसे आत्मा से परमात्मा की राह में सहयोगी भूमिका निभा सकते हैं।

डॉ. भटनागर जी ने प्रस्तुत उपन्यास द्वारा कर्म सिद्धांत एवं सेवाधर्म के महत्त्व को पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया है। मनुष्य से महत्त्वपूर्ण समाज है, क्योंकि वह उसके अस्तित्त्व का आधार है। मनुष्य को समाज की सेवा करनी चाहिए लेकिन कौन-सी? उसका चुनाव कौन करेगा? इन प्रश्नों के उत्तर में लेखक विवेकानन्द के विचारों को हमारे सामने रखते हैं। विवेकानन्द ने बताया कि शरीर को कर्म करना चाहिए। कर्म में हृदय का प्रेम उतारना चाहिए और कर्म करते हुए बुद्धि को काम में लाना चाहिए। विवेकानन्द आनंद को सर्वोपरि मानते हैं।

इस तरह प्रस्तुत उपन्यास में विवेकानन्द के चरित्र-चित्रण के माध्यम से उच्च दार्शनिक दृष्टि से साक्षात्कार होता है। विवेकानन्द और उनकी विचार संपदा किसी एक जाति, संप्रदाय या धर्म की न होकर संपूर्ण विश्व की अमूल्य संपदा हैं। स्वामीजी में देश, धर्म के साथ-साथ समग्र मानवजाति के कल्याण की धून ताउम्र बनी रहीं। उनकी जीवन यात्रा से समाज के हर व्यक्ति को बोधप्राप्ति एवं सत्प्रेरणा मिलेगी। खासकर युवकों के लिए विवेकानन्द का चरित्र और प्रस्तुत उपन्यास सशक्त मार्गदर्शक बन सकता है। स्वस्थ और उन्नत समाज निर्माण के कार्य में विवेकानन्द के विचार मजबूत आधारशिला साबित होंगे। अंत में कहा जा सकता है कि डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर जी ने अत्यंत सरलता से विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों को अनेक उदाहरणों द्वारा व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है।